

और वह धूप आज भी उतनी ही तेज़ है!

साठ के दशक में खंडवा में वनमालीजी के छात्र।
अग्रणी व्यंग्यकार, सिने विश्लेषक। मुंबई (उल्हास नगर)
में अंग्रेजी प्रोफेसर के पद से अवकाश प्राप्त।

• अजातशत्रु

वर्णन तो खैर किसी चीज़ का पूरा नहीं हो सकता! न संसार का, न व्यक्ति का और न नन्हे से अणु का। क्योंकि विचार और भाषा का तार एक हृद के बाद जाकर टूट जाता है। माना, अनुभव मुकम्मल होता है किसी परिधिहीन वृत्त की तरह, पर उसका वर्णन चुनाव चाहता है, कोई कोना चाहता है, जहाँ से वह शुरु हो, और हर शुरुआत, क्योंकि वह शुरुआत है, एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर, अनेक अनंत सिरों को छोड़ते हुए एक देशीय सफर, इसलिए हर बार वर्णन अधूरा होगा। तब केवल खपच्चियों का सहारा लेकर ही हम अपने विषय का चित्र खड़ा कर सकते हैं। स्वर्गीय जे.पी. चौबे साहब के बारे में मैं यही कर सकता हूँ।

आपको हैरानी होगी की खंडवे को लेकर मेरी सबसे तीखी याद दोपहर 10-11 बजे की मुलायम तेज धूप की है। मैं आज 50 साल की उम्र में जब पलटकर 14-15 साल की अपनी अवस्था के खंडवे पर नजर डालता हूँ तो यह खास धूप ही मेरे जेहन को “हांट” करती है। एक अजीब सी धूप, एक अजीब सी चमक जिसके पार कुछ चिंता है, तनाव है, उदासी है, और खेल तथा बेतकल्लुफी के आनंद से कटकर सहसा औपचारिक और गंभीर हो जाने का तीखा बेस्वाद कष्ट है। मन का कष्ट। आज भी जब कभी-कभार खंडवे की याद कौंध आती है, तो मन के परदे पर घासपुरा वार्ड, रेल्वे पोर्टर चाल, उसके पीछे का छोटा सा मैदान उसमें हाकी या क्रिकेट खेलते हुए मैं, रूपसिंह हरिया, भंगड़ (रामसुमेर), मुन्नीलाल, मंकी वगैरह, और सुबह की धूप याद आती है। कल्पना में रेलगाड़ी शंटिंग कर रही होती है और ड्यूटी पर आने जाने वाले याद आ रहे होते हैं। इस समय की धूप मेरे जेहन से इसलिये जुड़ गई है कि भारत में आम बच्चों के लिए सुबह खेलने और स्कूल जाने का वक्त यही 7 से 10 बजे के बीच होता है और स्कूल जाने की फिकर तब सताती है जब धूप तीखी होने लगती है। खेलते-खेलते हम सबको इतना अभ्यास हो गया था कि बगैर घड़ी के हम अंदाज लगा लेते थे कि अब स्कूल जाने का वक्त हो गया। बॉल को गोल तक ले जाने की तेजी में, या बल्ले से गेंद को हिट करने के शून्य काल में, जब शरीर करीब-करीब बाह्य वातावरण से बेखबर होता, तब भी अचेतन का प्रखर थर्मामीटर बराबर अंदाज लगा रहा होता कि अब धूप तेज और मुलायम के बीच में है, अब उसमें थोड़ी गर्मी जुड़ गई है, अब वह कड़क हो गई है और अब वह इतनी इम्पर्सनल और बेताल्लुक हो गई है... कि... स्टम्प्स उखाड़कर सीधे

घर भागना चाहिये। यह सब स्कूल जाने की अनिवार्यता से जुड़ा हुआ था। खेल और पढ़ाई में बँटा हुआ यह बाल मन अनजाने खेलने वाली धूप और स्कूल जानेवाली धूप का फर्क करना सीख गया था। धूप हमारी दोस्त थी, पर साढ़े नौ बजे के बाद वह हमसे अलग होना शुरू कर देती थी और दस बजे तक वह हमसे इतनी अलग हो जाती थी कि दोस्त के बजाय एक तटस्थ टास्कमास्टर हो जाती थी। फिर वह हमें धूरकर कहती थी- ‘‘स्कूल जाना है या नहीं?’’ गवर्नमेंट हाईस्कूल खण्डवा के प्रधानाध्यापक श्री चौबे साहब मेरे जेहन में इसी धूप से जुड़ गये थे।

वर्तमान और अतीत में फर्क होता है। एक ही अनुभव को लेकर फर्क होता है। स्कूल में लेट जाने पर चौबेजी का थप्पड़ पड़ता था, तो चौबेजी बुरे और क्रूर मालूम पड़ते थे। वह वर्तमान का अनुभव था। आज उसी थप्पड़ की याद आती है, गाल की पीड़ा ख्याल नहीं आती, बल्कि चौबेजी के प्रति अश्रुपूरित आदर जाग उठता है। अब वे बुरे नहीं लगते, प्यारे लगते हैं। इस बात का फख्र होता है कि हमने उनका थप्पड़ खाया था। ऐसा क्यों? एक ही अनुभव पर दो प्रतिक्रियायें क्यों? तिस पर एक दूसरे से एक-दम उलट। इसका कारण है- व्याख्या, समझ, दूर तक देखने की अंतर्दृष्टि और शिक्षा- शिक्षक के मूलभूत आदर्श में विश्वास। तब तक बच्चे थे। दूर तक नहीं देख पाते थे। तब हमारे लिए थप्पड़ का मतलब था शरीर की अप्रिय पीड़ा और थप्पड़ मारने वाले के लिए क्रोध और चिढ़। वह हमें सजा क्यों देता है? हमारे लेट आने से वह चिढ़ता क्यों है? उसके क्रोध के पीछे किस आदर्श की चिंता है? हमारा पिता या सम्बन्धी न होते हुए भी वह हमें इतने अधिकार से मारता क्यों है? वह क्यों चिंतित है हमारे लिए? हमारे भविष्य के किस रूप से जुड़ा है वह? इन आन्तरिक सच्चाइयों को बालक का वर्तमान नहीं समझ सकता था। आज उसका प्रौढ़ अतीत समझता है। अब समझ में आता है कि चौबेजी सिर्फ शिक्षक नहीं थे। वे मुर्दा शब्दकोष की इस जड़ संज्ञा और सरकारी पद के बाहर एक गुरु थे, उनके कुछ परम्परागत आदर्श थे। शिष्टता, विनम्रता, जिज्ञासा, ज्ञान उनका गहरा विश्वास था। वे छात्रों को सिर्फ इन्सानों की वासना जन्य उत्पत्ति नहीं मानते थे। बल्कि इस प्राकृतिक जीवन-यंत्र को, मनुष्य में विद्यमान अनादि मूल्य बोध के तहत, एक सफल, सम्पन्न, सार्थक नागरिक में बदलना चाहते थे। शिक्षा, चिंतन, मनन और आस-पास के प्रति सजग चेतना- इसके लिए आवश्यक होते हैं। बस इन्हीं बीजों को वटवृक्ष बनाने के लिए व्याकुल रहते थे। बच्चे इतनी दूर तक नहीं देख सकते, उन्हें खेलना, कूदना, लती मारना, गोल-गोल घूमकर पेशाब करना और उजड़ुता बरतना पसन्द होता है।

जन्मजात शिक्षक सोचता है कि बच्चे को इस वानस्पतिकता के आगे जाना चाहिये और फिर वह खुर्पी-कैची का इस्तेमाल करता है। इसमें चाँटा मारना, बेंच पर खड़े कर देना और कनगुच्ची लगवाना आता है। छात्रों का शरीर इसे पसन्द नहीं करता। मगर आगे चलकर गुरु की खुर्पी-कैचियां याद आती हैं, और बुरी भी नहीं लगतीं। आज मेरी समझ यह है कि चौबेजी उस बीते युग की बीती स्मृति हैं, जिसमें

मानवीय आदर्शों और सामाजिक मूल्यों की चिंता रोजमर्रा के जीवन में सर्वोपरि थी और जिसको तेज धार देने के लिए स्कूल एक आदर्श, जनरलाइज्ड, केन्द्र समझे जाते थे। वे उसी चिंता में खप गये। उन्हें कभी याद नहीं आया कि शिक्षा के धन्धे से पैसा कमाया जा सकता है और किसी सोसायटी में फ्लेट बुक कराया जा सकता है। वे उसी अन्तर्निहित आदर्श के लिए ईट-खपरैल की तरह छनते चले गये, जिसके लिए उन्होंने समझा, वे शरीर लेकर आये थे। आज के प्रचण्ड भौतिकतावादी माहौल में ऐसा शख्स, ऐसा जीवनतंत्र और ऐसा आत्मक्षय नमूने का शुद्ध घी मालूम पड़ता है। पतित से पतित इन्सान भी ऐसे प्रकाश का सम्मान करने के लिए तड़प उठता है। सचमुच चौबेजी और शिक्षक के यादगार आदर्श एकाकार हो गये थे। उन्हें अब विस्मृत आदर्श कथा की तरह याद किया जा सकता है और ऐसी निष्ठावान, निस्पृही, आदर्श आत्मा की याद करना... मरूस्थल में स्वयं को एक परायी फुहार से भिगोना है। चौबेजी एक पीड़ादायी सुखद स्मृति हैं।

हम पूछें, अपनी मौत के बाद क्या हम दूसरों को इतने सम्मान के साथ याद आयेगे? जे.पी. चौबे होना इसी सवाल का जवाब है।

उनका पूरा नाम था- जगन्नाथप्रसाद चौबे। मल्टीपरपज स्कूल में वे शायद सन् '54' या '55' में आये थे। उनके पहले कोई वर्माजी प्रिंसिपल थे। संस्था के शीर्षस्थ व्यक्ति की शख्सियत और रूझान का असर समूची संस्था पर पड़ता है। मानसिक वातावरण तक बदल जाता है। वर्माजी के समय में जहाँ एक किस्म की यांत्रिकता थी, वहीं चौबेजी के आते ही संस्था में सादगी, साहित्यिकता, श्रम और अनुशासन का वातावरण बना। वे लेखक भी थे, मेहनती भी और आदर्शवादी भी। बच्चे पढ़ें, शिष्टता सीखें और परिवेश के प्रति सजग हों, यही उनके सोच और चिंता के मूल प्रेरक थे। आगे चलकर अंग्रेजी, व्याकरण और नागरिक शास्त्र भी उन्होंने लिखा था और वह किताब हमारे कोर्स में थीं। बाद में उन्होंने अखबार पढ़ना हम लोगों के लिए कम्पलसरी कर दिया था और कक्षा में आते ही पूछते थे कि, उस दिन का प्रमुख समाचार क्या है, न बताने पर पिटाई होती थी। खबरों सम्बन्धी सूचना देने में विनोद मण्डलोई, सुरेन्द्रसिंह गौर, उमेश मालवीया आगे रहते थे। अंग्रेजी के पिरियड में (जब हम लोग मैट्रिक में पहुँचे) मैं उनका प्रिय छात्र था। वे सदा कहते थे- "राधेश्याम ओरिजिनल है, पर डिविजन नहीं बना पायेगा।" इसका कारण यह था कि मैं सीधे ढंग से सरल अंग्रेजी में कुछ नहीं कह पाता था। हिन्दी हो या अंग्रेजी मेरे सोचने और लिखने का तरीका जरा 'इन्वाल्ड' और तर्कों से लदा हुआ होता था। इसके कारण मुझे भारी-भरकम शब्दों का चुनाव करना पड़ता था और वाक्य-रचना लम्बी हो जाती थी। एक बार मैंने शिवाजी वाले पाठ के प्रसंग में 'प्यूजिलएनीमस' (कायर) शब्द का उपयोग किया। वे बहुत खुश हुए। बोले- "इस शब्द का अर्थ तो मुझे भी नहीं मालूम।" और फिर उन्होंने मुझे जी भरकर पीटा। बोले- "अपनी बात कहना सीखो, रोब डालने का चक्कर छोड़ो।" मैं ग्रासर को लेकर उनसे बहस भी करता था पर



अजातशत्रु

वे मेरे इस जोखम भरे दुस्साहस पर खुश होते थे और अफसोस करते थे कि यह छोकरा अच्छा वक्ता या लेखक बन सकेगा, पर मेरिट लिस्ट में पास नहीं होगा। उनकी दोनों भविष्यवाणियां (एक धिक्कार) सही साबित हुईं।

यह सही है कि तब, और आज भी कॉलेजों के बजाय हाई स्कूलों में छात्र की शिक्षा और व्यक्तिगत कंडक्ट पर अपेक्षया अधिक ध्यान दिया जाता है, पर चौबेजी तो आदर्श की मूर्ति थे। वे जैसे जन्मजात हेडमास्टर होकर आये थे, जिसे विक्टोरियन युग के इंग्लैण्ड में किसी हाई स्कूल में होना चाहिये था। वे एक-एक लड़के की प्रगति की जानकारी रखते थे। प्रार्थना में उपस्थित होना अनिवार्य मानते थे। स्कूल लगते ही चोर रास्तों पर चपरासी खड़े कर देते थे और खुद मुख्य प्रवेश-द्वार पर खड़े हो जाते थे। लेट आने वाला बराबर पिटता था। उनके कान पकड़ने का अन्दाज कुछ अजीब ही था। वे मुट्टी के भीतर पूरा कान पकड़ते थे और छात्र से चश्मा उतरवाकर उसे तमाचा मारते थे। एक बार मैं संस्कृत के पेपर में नहीं बैठ पाया तो उन्होंने फौरन चपरासी को घासपुरे के रेल्वे क्वार्टर्स में भेजा और पता करके मुझे बुलवाया। उस दिन पेपर रोज के खिलाफ सुबह से था, इस लिए मुझसे चूक हो गई थी। उन्होंने मुझे देखा, तो फौरन परीक्षा हॉल में भेजा, ताकि बचे हुए वक्त में मैं पास होने लायक नम्बर ले आऊँ। मगर जब पर्चा हो गया तो, उन्होंने आफिस में बुलवाकर मुझे खूब पीटा। उनका तकिया कलाम था- “मरोगे, जी, मरोगे।”

ऐसे ही एक बार मथेला में “रानी रूपमती” फिल्म की शूटिंग हुई। निरूपाराय आई हुई थी। मुझसे निरूपाराय को देखने का लोभ नहीं संवरा, तो मैं, काशीप्रसाद, रतनलाल अग्रवाल, रामनाथ परिहारे और प्रकाश जैन को गेर-गारकर ‘सिहाड़ा’ ले गया। उस दिन तो निरूपाराय की छवि पर दुर्वासा चौबे साहब का मोंटाज बनता रहा। स्कूल जाने की हिम्मत नहीं हुई। पिटाई के डर से मैं दो-तीन दिन की गुच्ची लगा गया। आगे गैरहाजिर रहने में मजा आने लगा, तो गेंदालाल कहार के साथ किराये की सायकिल लेकर नागचून की सैर करने लगा। नारायण सिंधी जो अब उल्हास नगर में हैं, के साथ रामेश्वर कुण्ड के बांध पर कूदने और तैरने का मजा लेने लगा। करीब एक हफ्ते बाद करुणावान चौबेजी ने निजी चिंता से चपरासी घर भेजा कि दुबले - पतले राधेश्याम को फिर टाइफाइड तो नहीं हो गया, और तब जाकर गुरुश्री के साथ-साथ पिताश्री को पता चला कि एकलव्य और श्रवणकुमार की औलाद पार्वतीबाई की धर्मशाला में नींद मारकर घर आ जाती है। घर पर पिताजी ने पीटा और स्कूल में बड़े सर ने। पीटते समय चौबेजी बोले- “क्योंजी, निरूपाराय तुमको खाने को देगी,” और फिर स्कूल से गायब रहने के अपराध पर पूरे एरियर्स के साथ पीटा। कहने का मतलब यह कि सात दिन बाद भी उन्होंने पिटाई निरूपाराय से ही शुरू की।

यह उनकी जिद नहीं थी, स्मरण शक्ति थी, और इतनी ही तेज स्मरण शक्ति मैट्रिक के हर छात्र की छोटी-छोटी विशेषताओं को लेकर थी। मेरा हाल तब यह था कि मैं पिछड़ी हुई पृष्ठभूमि से आता था। दिलोदिमाग पर गरीबी, पिछड़ापन,

पारिवारिक अशिक्षा, रेल्वे कॉलोनी के आवारा और अशिष्ट बच्चों और वातावरण की गंदगी का बेहद प्रभाव था। इन सबको देखते मुझमें प्रचण्ड हीनता बोध भी था। पड़ावा के महेन्द्र हूमड़ और बड़े बम के विश्वास बंकराव जैसे साफ-सुथरे, गोर-चिट्टे सहपाठी मुझे किसी और लोक के इन्सान लगते थे। कब गहरी उदासी और पीड़ा के कारण मैं आक्रामक हो गया था, मुझे पता नहीं था, मगर अपने हीनता बोध को अपने से ही छिपाकर बाहरी, बनावटी दबंगता से मैंने स्वयं को बदतमीज हीरो बना लिया था। अश्लीलता, उजड्डता और ओढ़ी हुई बेशर्मी. . . मेरे बचाव के अस्त्र हो गये थे। इन सब के बावजूद अपने से लाचार-बीमार किशोर अपने गुरुओं और सहपाठियों से हमदर्दी चाहता है। वह मिलना मुश्किल था, क्योंकि एक किशोर के आंतरिक विरोधाभासों और जटिलताओं को समझने की अन्तर्दृष्टि और उस किशोर की आक्रामकता के पीछे उसके हताश कोमलपन को समझने का जज्बा... एक तरह से मुश्किल ही था। इसी के साथ-साथ एक दंश और चुभ गया था। मैं पांचवीं कक्षा में अपनी इंटेलेजेन्स के कारण मॉनीटर बनाया गया था, और फिर वह मॉनीटरी किसी षडयंत्र के तहत मेरे हाथ से चली गई थी। अब मुझे वही छात्र झूठे आरोप गढ़कर बेंच पर खड़ा कर देता, जिसके ऊपर मैं स्वयं कभी कक्षा नायक था। उस छोटे से शहर में शिक्षकों का यह हाल था कि वे न शेक्सपियर थे और न फ्रॉयड- और इसलिए वे भी बारीकियों में न जाते हुए बेंच पर खड़ा रखते। मैं बचाव करना चाहता, पर मेरी सुनता कौन? इसीसे खीजकर मैं स्वयं को जानबूझ कर अप्रियतर बनाता चला गया, और एक दिन मधु की दुकान पर किसी छात्र की किताब बेचते पकड़ा गया तो शर्म के बजाय एक क्रूर राहत महसूस की। हैरानी की बात यह है कि चौबेजी इन जटिलताओं को शायद अपनी लेखकीय इन्स्टिंक्ट या इन्ट्यूशन से जानते थे। कई बार उन्होंने मारा-पीटा और एक बार चेम्बर में बुलाकर बोले- “तुम जान बूझकर बुरे क्यों बनते हो? कितनी तन्खाह है तुम्हारे बाप की”? मुझे याद नहीं, इन शब्दों का मुझ पर ऐन असर क्या पड़ा, मगर मैंने भी एक गुप्त राहत जरूर महसूस की होगी। आज सोचता हूँ कि इतने शिक्षकों और छात्रों के बीच हेडसर, और अकेले हेडसर, मेरी आत्मा में प्रवेश कर सके, तो इसका कारण यही है कि वे जन्मजात लेखक थे, कि उन्होंने गरीबी देखी थी, कि वे बगैर मार्क्सवादी हुये, छात्र की अधिकांश कुंठाओं को, उसके बाप की तन्खाह और धूमिल परिवेश से जोड़ सकते थे। आज संभवतः उन्हीं की बदौलत है कि मैं अपने कॉलेज में तथाकथित आवारा, बदमाश और बुरे छात्रों को भली-भाँति समझ लेता हूँ और उनसे एक इमोशनल सहानुभूति के साथ पेश आता हूँ। कहने का मतलब यह कि स्व. चौबेजी की चर्चा चली है, तो मैं यह बतलाना अपना फर्ज समझता हूँ कि वे जन्मजात, आदर्श गुरु थे और पिता के तुल्य अपने छात्रों से पेश आना जानते थे। इतने वर्षों बाद उनकी तारीफ में यही कहा जा सकता है कि ऐसे इंसान अब हवाले के नमूने रह गये हैं, जैसे हम कहें कि इंसानियत का यह जो पुराना फोटो देख रहे हो न, इसे आदर्शों ने कभी अतीत में खिचवाया था। बस इसे देखो, और पीठ घुमा लो।

40 : वनमाली समग्र स्मृति

एक और संस्मरण याद आ रहा है। क्या आप विश्वास करेंगे कि जगन्नाथप्रसाद चौबे जी जैसा रोबीला, गंभीर और दुर्लभ प्रिंसिपल कभी अपने चिरकुट से छात्र के, साथ-साथ चलता हुआ, बीच बाजार में से, धासपुरा के रेल्वे क्वार्टर्स में गया होगा, और परिवेश को गौर से देखकर लौट आया होगा? विश्वास कीजिये ऐसा हुआ था! चौबे जी मेरे साथ-साथ धासपुरा गये थे। कारण यह था कि उन्होंने स्कूल-पत्रिका के लिए मुझसे एक लेख लिखवाया था- “मेरे-पड़ोसी”। वह मेरे जीवन का पहला लेख था उसे पढ़कर वे श्री छज्जूलाल चौरे से बोले थे- चौरेजी, यह लड़का जरा अलग है, “पिक हिम अप”। उसी शाम वे मुझसे बोले- ‘तुम्हारा लेख अच्छा है। मगर और भी बारीकी से देखने की आदत डालो। देखो आज खुद मैं तुम्हारे साथ चलूँगा। सराउंडिंग देखना चाहता हूँ।’ वे मेरे साथ गये। बाद में समूचा लेख भी उन्होंने ही लिखा मगर मेरी समझ में आ गया कि ईमानदार लेखक बनने के लिए देखना, बार-बार देखना, और देखते हुए को ही, गौर से देखना कितना जरूरी है। जिन्होंने उनकी कहानी “भैंसा गाड़ी” पढ़ी होगी, उन्हें प्रसन्नता और हैरानी होगी कि सन् 50-60 के दौर में एक ब्राह्मण और एक अभिजात प्रिंसिपल... गरीबी, पिछड़ेपन और नौकरों-मजदूरों पर कितनी गहरी नजर रखता था, कि उसकी कहानियों के पात्र नौकर या मजदूर हैं और उनकी पृष्ठ भूमि देहातों या गन्दी गलियों में है। इससे क्या पता चलता है? यही कि उस शुष्क, कठोर और गुस्सैल इन्सान की आत्मा में करुणा का गहरा झरना बहता रहता था। शायद कर्तव्यपरायणता, ईमानदारी और संवेदनशीलता का ही नतीजा था कि चौबेजी के चेहरे पर शुष्कता और आँखों में गीलापन एक साथ था। वे आर्द्र पत्थर थे, जैसे गणित की सुन्दरता और कोमलपन। प्रसंगवश यह भी याद आ रहा है कि, वे डी.पी.आई. हो गये और किसी सन्दर्भ में हरदा आये, तो ए.डी.आई.एस. तिवारी का घर पूछते हुए उनके यहां चले गये। तिवारी कभी खण्डवा में उनके तले मातहत थे। तिवारीजी हैरान रह गये। अपने कठोर बाँस के प्रति उनका गला भर आया। तो इतने मानवीय और बेरमुक्कत थे चौबे साहब। हम बच्चे उन्हें गुस्से से “कुब्बूजी” कहते थे, पर अब समझ में आता है कि, उनकी कठोरता और मार एक आदर्शवादी पिता की विकल, अमूर्त खीज थी, जो न जाने अपने छात्रों को किस जन्मत का फूल बना देना चाहती थी।

हम समझते थे, चौबेजी अलोकप्रिय हैं। उन्हें शहर नापसन्द करता है। जब वे खण्डवा छोड़कर जायेंगे, तो एक चिड़िया भी उन्हें पहुंचाने स्टेशन नहीं जायेगी। पर न जाने क्यों हम बच्चों का निष्कर्ष गलत रहा। हममें से अधिकांश के पालक और शहर के सभ्रांत नागरिक, भारी संख्या में उन्हें बिदाई देने स्टेशन गये। ऐसी भीड़ खंडवे में पहले और बाद में नहीं देखी गई। हम समझ नहीं पा रहे थे कि लोगों को क्या हो गया है, जो हेडसर का इतने जुनून के साथ सम्मान कर रहे हैं। खबर आई कि वे मालाओं से लाद दिये गये थे और गाड़ी चली, तो लोग डबडबाई आँखों से रूमाल हिलाते रहे। मैंने यह दृश्य देखा नहीं था, पर आज भी कल्पना होती है कि

दर्जनों मालाएँ पहनने के बाद और प्रशंसकों की आंखों में आँसू देखने के बाद हेडसर वैसे ही निर्विकार, शुष्क और मुस्कान रहित बने रहे होंगे। यह रूखापन किसी कृतज्ञता और संवेदनशीलता का अभाव नहीं था, बल्कि चौबेजी का हाड़-मांस कोल्ड, निर्वैयक्तिक आदर्शों को इतना समर्पित हो चुका था कि हँसने-मुस्काने के लिए उनमें अपनी कोई निजता नहीं बची थी। वे दधीचि थे- जो जीतेजी आदर्शों और मूल्यबोध का वज्र हो गये थे।

अपने शुष्क कर्तव्य के अलावा उन्हें कुछ प्यारा न था। हड्डियों से झिरता पसीना ही उनका कठोर आनन्द-रस था। ऐसा इन्सान दिमाग की नस फट जाने से नहीं मरेगा, तो कैसे मरेगा?

उनकी रूखी श्रमप्रियता को देखकर न जाने क्यों मुझे अल्बर्ट आइंस्टीन की याद आती है। दोनों की ही आँखें पनियल और श्रम के बोझ से उनींदी मालूम पड़ती थीं। ऐसा शुष्क कर्मयोगी मैंने बाद में नहीं देखा।

आखिरी मुलाकात उनसे भोपाल में हुई थी। तब वे 1250 में रहते थे। ओहदे से डी.पी.आई. थे। मैं बेल दबाकर भीतर गया, तो वे उसी तरह घर वाले लहजे में धोती-बनियान पहनकर बैठे थे और अखबार पढ़ रहे थे। मैंने पैर छुए तो बोले- आपका परिचय? मैंने कुछ शर्माते हुए कहा- मैं राधेश्याम हूँ, वही जिसे आपने खंडवे में पढ़ाया था। अब उन्होंने मुझे गौर से देखा और हँसने लगे। हँसने में भाव यह था कि के रे बकस, आजकल तू काई करे है? बोले- क्या करते हो आजकल? मैं तब तक प्रोफेसर हो चुका था। प्रौढ़ होने के कारण, और पद तथा लेखकीय प्रतिष्ठा के कारण, थोड़ा आत्म-विश्वास और दुस्साहस आ गया था। मैंने मजाक की। कहा- “सर, बेंच पर खड़ा रहता था, इसलिए शिक्षक हो गया हूँ।” वे खूब हँसे। बोले- “लगता है, लेखक-वेखक बन गये होंगे।” इसके बाद काफी बातें हुईं। पर मैं भीतर से झिझकता ही रहा। वे यहाँ वहाँ की पूछते रहे। पिता के बारे में भी पूछा। फिर न जाने क्या सोचा, खुद ही बोले- “रेल्वे में थे ना। बड़ा सपना क्या देखते। अब थोड़ा आराम मिलेगा।” मैं स्तब्ध रह गया। यह उनकी संवेदनशीलता थी आम आदमी के प्रति। यूँ मेरे पिता को उन्होंने कभी देखा नहीं था। अब जोड़ लीजिये कि ऐसा आदमी ब्रेन हेमरेज से गया।

सोचा नहीं था कि कभी उन पर कुछ लिखना पड़ेगा। अच्छा हुआ कि आपने संस्मरण लिखने का अनिवार्य सन्दर्भ बना दिया और एक नैतिक कर्ज उतारने का मौका मिला। आखिर मूल्य, त्याग और तपस्या को इसी सभ्य दुनिया में कोई कद्र तो मिलनी चाहिये। चौबेजी अभी भी जीवित हैं, क्योंकि गुण और उनकी याद आदमी को जीवित रखते ही हैं। अभी भी “सर” का काला जोधपुरी कोट, बादामी रंग का फुल पैन्ट, लाल जूते निर्लिप्त चाल और सायकिल याद आती है, जिसे चपरासी लपककर थाम लेता था। उनकी वह रसीली, तटस्थ मुस्कान भी याद आती है, जब

उनकी कल्पना और अपेक्षा के बाहर घासपुरे का एक हीनताबोध ग्रस्त लड़का जोरदार शायराना जुमला बोला जाता था और वे मुक्त भाव से खुश होने के बाद अचानक गुस्से से कहते थे- “मरोगे जी मरोगे। सीधे बोलो।”

मैं सीधा न बोल सका। जैसे आप देख रहे हैं, जमाना टेढ़ा होता चला गया। मैं अफसोस के साथ अपनी इसी खामी पर खुश हूँ। यूँ सूरज वही है और खण्डवा अब जरा ज्यादा तपता है। पर साढ़े नौ से साढ़े दस के बीच की धूप में हेडसर अब भी याद में दमकते हैं, जैसे किसी हरे-भरे झाड़ के नीचे खेलते समय पत्तों की शीतल छाँव और विद्या की धूप के तेज चकत्ते रूह की पीठ पर बराबर पड़ रहे हों।

धूप की इस चाँदनी का उतरना मुश्किल है।

